नाटक

निर्धारित नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन

नाटक एवं उसके तत्त्व

भारतीय प्राचीन आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं—(1) वस्तु, (2) नायक, (3) रस। किन्तु यूरोपीय विद्वानों ने इसके तत्त्वों की संख्या 6 मानी है। (1) कथावस्तु, (2) पात्र और चरित्र-चित्रण, (3) कथोपकथन, (4) देश-काल, (5) उद्देश्य, (6) भाषा-शैली। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय आचार्यों के तीन ही तत्त्वों में योरोपीय विद्वानों के उक्त 6 तत्त्व समाहित हो जाते हैं। किन्तु आधुनिक हिन्दी नाटकों में मुख्यत: योरोपीय शैली का ही अनुकरण किया जाता है जो भारतीय शैली से भी बहुत कुछ प्रभावित है, अत: योरोपीय विद्वानों द्वारा निर्धारित तत्त्वों पर ही हम यहाँ विवेचन उपयुक्त समझते हैं–

(1) कथावस्तु

नाटक की कहानी को 'कथावस्तु' या 'कथानक' कहा जाता है। नाटक की वर्णन शैली कहानी या उपन्यास की कथा शैली से सर्वथा भिन्न होती है। नाटककार को अपनी कथावस्तु के चयन में कहानीकार या उपन्यासकार की भाँति अधिक सामग्री प्रयोग करने का बिल्कुल ही अधिकार नहीं होता। उसे अभिनय में एक निश्चित समय की सीमा के भीतर ही कथानक का समावेश करना होता है इसलिए वह पूरी कथा की मुख्य-मुख्य घटनाओं को ही नाटक में इस ढंग से रखता है कि दर्शकों को कथा की प्रतीति हो जाती है। उसकी कथा का आकार अधिक-से-अधिक इतना ही होना चाहिए जो तीन या चार घण्टे में अभिनीत हो सके। (वैसे आधुनिक नाटक तो अधिक-से-अधिक दो या तीन घण्टे में ही समाप्त किये जाते हैं)। नाटक की कथा दो प्रकार की होती है—

(क) आधिकारिक अथवा मुख्य कथा–जो नायक के चरित्र से सीधा सम्बन्ध रखती है।

(ख) प्रासंगिक अथवा गौण कथा–जो प्रसंगवश कथा में आ जाती है। प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है–(अ) पताका, (ब) प्रकरी।

(अ) पताका वह प्रासंगिक कथा है जो मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलती है।

(ब) प्रकरी वह प्रासंगिक कथा है जो बीच में ही समाप्त हो जाती है। रामायण की कथा में राम की कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली भरत की कथा 'पताका' है जबकि 'शबरी' की कथा 'प्रकरी' है।

भारतीय आचार्यों के मतानुसार नाटकों की कथावस्तु पाँच प्रकार की होती है—

(i) प्रारम्भ (ii) प्रयत्न (iii) प्रत्याण (iv) नियताप्ति (v) फलागम।

(2) पात्र और चरित्र-चित्रण

नाटक में घटनाओं के आधार पर पात्र होते हैं। नाटक के प्रमुख पात्र को 'नायक' कहते हैं। नायक ही नाटक में फल का अधिकारी होता है। नायक की पत्नी या प्रेमिका 'नायिका' कहलाती है। भारतीय आचार्यों के मतानुसार नायक विनीत, मधुर, त्यागी,

प्रियवादी, दक्ष, लोकप्रिय, आदर्शवादी, शास्त्रज्ञ, धर्मनिष्ठ, आत्म-सम्मानी, ओजस्वी आदि सभी गुणों से सम्पन्न होना चाहिये। किन्तु आधुनिक नाटकों में उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक नहीं माना जाता। साधारण से साधारण और बुरा-से-बुरा व्यक्ति भी नाटक में 'नायक' हो सकता है।

(3) कथोपकथन

कथोपकथन ही नाटक का प्राण है। इसी से पात्रों के चरित्र का विकास होता है। नाटक में निरर्थक कथोपकथन की कोई गुंजाइश नहीं है। कथोपकथन स्वाभाविक, तर्कसंगत और यथासम्भव संक्षिप्त होने चाहिये। उसमें अभिनय की उपयुक्तता होनी चाहिये। कथोपकथन को आचार्यों ने तीन श्रेणियों में बाँटा है—

(क) नियत श्राव्य—यह कथोपकथन कुछ निश्चित पात्रों के ही बीच होता है। रंगमंच पर उपस्थित सभी पात्रों का सम्बन्ध उससे नहीं होता।

(ख) सर्व श्राव्य—यह सबके सुनने के लिए होता है।

(ग) अश्राव्य—यह रंगमंच पर उपस्थित किसी पात्र के सुनने के लिए न होकर केवल दर्शकों के सुनने के लिए होता है। इसे स्वगत कथन या स्वगत भाषण भी कहा जाता है। यद्यपि स्वगत कथन को आजकल अनुचित माना जाता है किन्तु इसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(4) देश-काल तथा वातावरण

देश-काल और वातावरण से पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता और वास्तविकता आती है। प्रत्येक युग, देश तथा वातावरण का चित्रण, उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा के अनुकूल होनी चाहिए। किन्तु इस चित्रण में रंगमंच की सुविधाओं और सीमित स्थान का भी ध्यान रखना होता है। प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने इसी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए 'संकलनत्रय' का विधान किया था। इसके अनुसार स्थान, काल और कार्य (परिस्थिति) में एकता का होना आवश्यक माना गया था। उनका विचार था कि नाटक में घटित घटना किसी एक ही कृत्य से, एक ही स्थान में और एक ही समय से सम्बन्धित हो। किन्तु आधुनिक नाटकों में इसका पालन नहीं हो रहा है।

(5) उद्देश्य

नाटक के उद्देश्य के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। हमारा देश आदर्शवादी रहा है, अत: यहाँ साहित्य रचना किसी न किसी आदर्श को ध्यान में रखकर हुई है। यहाँ के नाटकों में धर्म, अर्थ और काम जीवन के तीन प्रमुख उद्देश्यों में से किसी न किसी एक की प्रधानता अवश्य रहती है। पाश्चात्य नाटकों में व्यक्त या अव्यक्त रूप से कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है किन्तु वह किसी प्रकार की जीवन मीमांसा के रूप में होता है। आन्तरिक या बाह्य संघर्ष के द्वारा दर्शक या पाठक उस उद्देश्य को समझने में सफल होते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही साथ संघर्ष का शमन हो जाता है। पाश्चात्य नाटककार अपने इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति स्वयं न करके कथोपकथन के माध्यम से करता है इसलिए इसमें एक प्रकार की अस्पष्टता होती है। इस उद्देश्य की जानकारी के लिए हमें पात्रों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ता है।

(6) भाषा-शैली

कथोपकथन की शैली ही नाटक की मुख्य शैली है। शैली नाटक की मात्राएँ हैं। ये चार प्रकार की होती हैं—कौशिकी, सात्विकी, आरभटी व भारतीय।

शैली के साथ ही साथ नाटक की भाषा पर भी ध्यान देना आवश्यक है। नाटक की भाषा अत्यन्त ही सरल, स्वाभाविक, बोधगम्य, प्रभावशाली तथा अभिनेयता के गुणों से सम्पन्न होनी चाहिये। भाषा की दुरूहता पाठकों अथवा दर्शकों के लिए आनन्द में बाधक हो जाती है।